दं स ण मू लो ध म्मो

आत्मधर्म

दं स ण मू लो ध म्मो

वर्ष : १
अंक : ३

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील
★

श्रावण
२००२

महान सुभट ?

अरे रे! अनन्त काल में ऐसा अवतार मिला, और फिर भी चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की पहचान न हुई! अब कहाँ अवतार होगा? कहाँ शरण मिलेगी? आत्मा देह-मन-वाणी से पृथक् है, इसका निर्णय नहीं करता और सत्समागम मिलने पर सुनने को अवकाश नहीं निकालता, वह दुष्ट है; अपने लिये स्वयं बे-परवाह है! जो भगवान के मार्ग को नहीं समझते, वे भव-भय हीन 'सुभट' हैं! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान भी संसार से भयभीत हुए और स्व स्वरूप को पाकर संसार सागर से पार हो गये। जिस संसार से भगवान भी डरे, उस संसार के भय से न डरनेवाले सब उलटापन में महान सुभट है।

[परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी
के 'सत्तास्वरूप' पर व्याख्यान में से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

आत्मा की अनादि की सात भूलें

१. शरीर को अपना मानना। (यह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

२. शरीर के उत्पन्न होने पर मैं उत्पन्न हुआ तथा शरीर के नाश होने पर मैं नष्ट हुआ—ऐसा मानना। (यह अजीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

३. मिथ्यात्व, रागादि प्रत्यक्षरूप से दुःखदायक हैं, फिर भी उनका सेवन कर सुख मानना। (यह आस्रवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

४. शुभ और अशुभ ये दो प्रकार के भावबन्ध हैं। स्वपद को बिसार कर इनके फल में रति या अरति करना। (यह बन्धतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

५. वीतरागी विज्ञान आत्महित का कारण है, तथापि उसे कष्टदायक मानना। (यह संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

६. शुभाशुभभाव की इच्छा को न रोकना तथा आत्मशक्ति को व्यर्थ खोना। (यह निर्जरा-तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

७. निराकुलता को मोक्ष का स्वरूप न मानना। (यह मोक्षतत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।)

(छहढाला की दूसरी ढाल की गाथा ३-५-६-७ के आधार से।)

भूल सुधार

[आत्मधर्म के दूसरे अंक के प्रथम संस्करण में १८ वें पृष्ठ पर सम्यग्दर्शन की अपार महिमा नामक लेख में छठा पेरेग्राफ निम्न प्रकार सुधार लेना।]

आयु बंध के पूर्व—सम्यक्त्व का धारक प्राणी मरण होने पर अगले भव में नारकी, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी, नपुंसक, स्त्री, स्थावर, विकलत्रय, कर्मभूमि का पशु, हीनांग, नीचकुली, अल्पायु, और दरिद्री नहीं होता। मनुष्य और वैमानिक देव ही होता है। नरकायु और तिर्यंगायु का बंध पीछे सम्यक्त्व हो जाय और नरक भी जाय तो प्रथम नरक से नीचे नहीं जाता, तिर्यंच भी हो तो भोग भूमिमात्र का तिर्यंच होता है। इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

मुद्रक—प्रकाशक :- जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय,
दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़, पुनर्मुद्रण ता. १९-१०-४५

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ३

: आत्मधर्म :

श्रावण
२००२

निश्चय व्यवहार का स्वरूप

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्य भूतार्थम्॥
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्य नवगीत सिंहस्य॥
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥७॥

अर्थ :- मुनिराज, अज्ञ जीवों को समझाने के लिए असत्यार्थ व्यवहारनय का उपदेश करते हैं। परन्तु जो कोई मात्र व्यवहारनय को ही मानता एवं जानता है, उसे तो देशना देना ही व्यर्थ है। जैसे कि कोई सिंह को न जानता हो तो वह बिल्ली को ही सिंह मान बैठता है, इसी तरह जो निश्चय को न जानता हो तो वह व्यवहार को ही निश्चय समझ लेता है।

व्रतादि के छोड़ने से व्यवहार का हेयपना नहीं होता है—

प्रश्न - आप व्यवहार को असत्यार्थ और हेय कहते हैं तो फिर हम व्रत, शील, संयमादि व्यवहार कार्य किसलिए करते रहें? क्या इन सबका त्याग कर दें?

उत्तर - व्रत, शील, संयमादि का नाम व्यवहार नहीं है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है। ऐसी मान्यता तो त्यागने योग्य ही है। व्रत, शीलादि को बाह्य सहकारी होने से मोक्षमार्ग उपचार से कहा है, परन्तु ये सब वस्तुएँ परद्रव्याश्रित हैं। और सच्चा मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है, जो स्वद्रव्याश्रित है। इसीलिए व्यवहार को असत्यार्थ एवं हेय समझना। इसलिए व्रतादि के छोड़ने से कोई व्यवहार का हेयपना नहीं हो सकता।

निचली दशा की प्रवृत्ति में शुभभाव को छोड़ने का फल

व्रतादि को छोड़कर तू क्या करेगा? यदि हिंसादि रूप प्रवृत्ति करेगा तो महान अनर्थ होगा। क्योंकि वहाँ तो उपचाररूप से मोक्षमार्ग की संभावना नहीं है। हिंसादि में प्रवृत्ति करने से तो उल्टा नरकादि पावेगा। इसलिए ऐसा करना अत्यन्त अयोग्य है। यदि व्रतादि परिणति को दूर करके वीतराग भाव परिणति को प्राप्त कर सके तो भले ही ऐसा कर परन्तु निचली दशा में तो यह हो नहीं सकता। अतः व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं।

समयसारजी
कर्ता-कर्म
अधिकार

सुख और उसका साधन

तारीख
१८-४-४५
व्याख्यान

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी का

प्रवचन

इस कर्ताकर्म अधिकार में आचार्यदेव ने कहा कि – हे भाई! तू चैतन्यस्वरूप आत्मा है। और यह कर्म तथा शरीरादि तो जड़ हैं, इस जड़ का तू कर्ता नहीं है। तेरा स्वभाव, जड़ कर्म से बिल्कुल भिन्न है, किन्तु हमें तो तुझे यह बताना है कि जिस भाव से कर्म बँधते हैं, उस भाव से भी तेरा स्वरूप भिन्न है। तू पहले अपने आत्मा को शरीरादि से और जड़ कर्मों से भिन्न मान। जड़ कर्म से पृथक् मानने पर यह धारणा दूर हो जाएगी कि कर्म, शुभाशुभभाव कराते हैं। इसलिए तू कम से कम पहले अपने परिणामों का उत्तरदायित्व तो स्वीकार कर।

शुभाशुभभाव जड़कर्मों से नहीं होते, किन्तु तू अपने उल्टे भावों से उन्हें उत्पन्न करता है। इस प्रकार पहले तू अपने परिणाम को तो देख, फिर बार में तुझे मालूम होगा कि तू शुभाशुभ परिणाम जितना भी नहीं है। तेरे त्रिकालीस्वरूप में क्षणिक शुभाशुभभाव होते हैं, वह परमार्थ से तेरा कर्तव्य नहीं है। उन शुभाशुभ परिणामों में तेरा आत्मसुख नहीं है। तू शुभाशुभ परिणामरहित निराकुल आत्मस्वभाव को जानकर उसमें स्थिर हो जा तो तुझे आत्मसुख का अनुभव होगा। इसलिए पहले यह निश्चय कर ले कि मेरा सुख स्वभावभाव में है; जड़ में या विभावभाव में मेरा सुख नहीं है।

मेरे भाई! तुझे सुखी होना है न! तू जिस सुख को चाहता है, वह सुख तेरे ही आत्मा में होगा या शरीरादि पर पदार्थ में? आत्मा का सुख पर में नहीं हो सकता, किन्तु आत्मा में ही होता है और इस सुख को प्रगट करने का उपाय भी आत्मा में ही होता है। जहाँ सुख होता है, वहीं उसका उपाय होता है। यह तो हो नहीं सकता कि सुख आत्मा में हो और उपाय पर में हो! सुख और सुख का उपाय दोनों आत्मा में ही है। इसलिए शरीरादि की परवाह न करके भी आत्मासुख प्राप्ति का उपाय करना चाहता है। वह सुख के लिए बिना द्वेष के शरीर त्याग के लिए भी तैयार होता है।

यदि यह श्रद्धा हो जाए कि आत्मा का सुख और उसका उपाय आत्मा में ही है, तो आत्मा सुख के लिए पर को साधन ही क्यों माने? यह शरीर, सुख का साधन नहीं है, और राग-द्वेष के भाव भी सुख के साधन नहिं है, परवस्तु से तो आत्मा अलग ही है। इसलिए पैसा, शरीर आदि

कोई भी परवस्तु आत्मा के सुख का साधन नहीं है। इतना ही नहीं, किन्तु पुण्य-पाप का साधन भी पैसा आदि परवस्तु नहीं है। अपने परिणाम से ही पुण्य-पाप होता है। इसलिए यदि सुख चाहिए तो पहले उस आत्मस्वभाव को जानना चाहिए, जिसमें सुख है। बाह्य वस्तु को सुख का साधन मत जान, इतना ही नहीं; किन्तु अन्तर में जो दया या भक्ति के शुभारागरूप भाव हैं, उन्हें भी आत्मसुख का साधन मत जान। आत्मा में सुख भरा हुआ है, और उस सुखस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान ही सुख प्राप्ति का उपाय है।

समाधि के समय यदि स्वरूप का लक्ष होगा तो शान्ति मिलेगी। आत्मा की शान्ति के लिए शरीर क्या काम करेगा, पुण्य का विकल्प भी आत्मशान्ति देने को समर्थ नहीं है। सुख के लिए शरीर को भी बिना किसी द्वेष के त्याग देना चाहिए। शरीर मेरे सुख का साधन नहीं है, यह जानकर शरीर के प्रति जो राग है, वह दूर हो जाना चाहिए। यदि शरीर त्याग के समय द्वेष हो आया तो मानना चाहिए कि शरीर में जो सुखबुद्धि है, वह दूर नहीं है। इसी प्रकार शरीर त्याग के अवसर पर समाधि के समय यदि बाहर की ओर लक्ष पहुँचे कि अमुक भक्ति प्रभावना के कार्य बाकी रह गये है तो उसे भी अन्तरङ्ग-आत्मशान्ति नहीं मिल सकती।

बाहर के कार्यों में निमित्त तो शरीर है, इसलिए जिसे बाह्य कार्यों का ध्यान है, उसे अभी शरीर को टिका रखने के भाव है; अर्थात् उसने शरीर को अपने सुख का साधन मान रखा है। इसलिए उसे भी आत्मा की शान्ति नहीं मिल सकती।

शरीर के परमाणु छूट जाते हैं, यह अपने ही कारण से बनता है; शरीर के परिणमन के साथ आत्मा के सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीराश्रित कार्यों में अथवा उसके भावों में आत्मा का सुख नहीं है। शरीर के जाते हुए यदि अनुपयुक्त भाव उत्पन्न हो जाय तो वह आत्मा की शान्ति को रोकता है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि शरीर जिस क्षेत्र में या जिस समय छूटना होगा, वहीं और तभी छूटेगा ही किन्तु यह प्रसङ्ग आने से पूर्व यह निश्चय करना चाहिए कि यह शरीर मुझ से भिन्न ही है, और शरीर की ओर जो द्वेष, भक्ति या प्रभावना के भाव उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है। शुभविकल्प भी मेरे लिए लाभदायक नहीं है। मेरा विकार रहित स्वरूप ही मुझे लाभदायक है, इसी में मेरा सुख है। इस प्रकार का ज्ञान-भान हुए बिना स्व-स्वरूप में से निराकुल शान्ति अंकुरित नहीं हो सकती है।

भाई! तुझे तो सुख चाहिए है न? तो पहले यह निश्चय कर कि तेरा सुख तुझ में है या पर में? और उस सुख का साधन तुझ में है या पर में? पहली बात तो यह है कि आत्मा का सुख आत्मा से अलग नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मा का सुख आत्मा में ही है, और उस सुख का

उपाय भी आत्मा में ही है। क्योंकि जहाँ सुख होता है, वहीं उसका उपाय भी होता है। अन्तर के सुख का साधन, शरीरादि परपदार्थ तो क्या होंगे; बाह्य निमित्त से उत्पन्न होनेवाले शुभभाव भी अन्तर के सुख का साधन नहीं है; इसलिए स्वाश्रय स्वभाव की ओर दृष्टि करके पराश्रयभाव का त्यागकर, उस ओर से दृष्टि को बदल दे। मेरा सुख और उसके साधन मुझमें है; किसी पर में मेरा सुख या उसके साधन नहीं है। पर के लक्ष से जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह पराश्रयभाव है, उसमें मेरा स्वाश्रयी सुख नहीं है। इस प्रकार आन्तरिक निश्चय होने पर सर्व पर का आश्रय दूर हो गया और दृष्टि से पराश्रय भाव हट गया मानना चाहिए।

इस शरीर में शान्ति कहाँ से ? शान्ति तो आत्मा में है। देखो न! यह शरीर तो क्षण में छूट जाता है; प्रत्येक क्षण में जगत् के जीवों का मरण हो ही रहा है। जगत् के जीवों का इस प्रकार मरण देखकर धर्मात्माओं को संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है और स्वरूप की पूर्णता की भावना वढ़ती है। आचार्य भगवान कहते हैं कि — अहो! यह संसार (शुभाशुभवृत्तियाँ) क्षणिक है, इसमें आत्मशान्ति नहीं है। हम एक क्षण भी संसारभाव में नहीं रहना चाहते। हम तो इसी क्षण संसार के समस्त भावों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में लीन होना चाहते है।

[ज्ञानियों को समस्त संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, इसलिए वे संसार के किसी भी भाव को नहीं चाहते। वे उस भाव को भी नहीं चाहते, जिस भाव से स्वर्ग मिलता है और उधर अज्ञानी को नरकादि के दु:खों के भय से वैराग्य होता है, इसलिए उसके अन्तरङ्ग से स्वर्गादि गति की रुचि दूर नहीं होती; इसलिए उसका वैराग्य सच्चा नहीं होता। यदि वैराग्य सच्चा हो तो जिस भाव से संसार मिले और केवलज्ञान रुक जाए, वह भाव का आदर नहीं होता।]

★

अन्तरस्वरूप के भानसहित ज्ञानी जब गृहस्थदशा में होता है, तब अस्थिरता के कारण शुभाशुभ वृत्तियाँ हो जाती है, ज्ञानी जन उसे इष्ट नहीं मानते, किन्तु उन्हें छोड़कर सम्पूर्णतया स्वरूप में स्थिर होने की ही भावना होती है। क्षणभर पहले भक्ति, प्रभावना और दान इत्यादि के भाव तथा उल्लास होता है और दूसरे क्षण में शरीर त्याग कर दूसरा भव धारण हो जाता है; इस प्रकार के वैराग्य के निमित देखकर धर्मात्मा के पूर्णता की भावना उछलने लगती है कि अरे-रे! हमारे केवलज्ञान का वियोग है। हमारी परिपूर्ण सिद्धदशा का भी विरह है। अब हम इस समस्त संसार को छोड़कर अपने पूर्णानन्द की साधना करेंगे। हमारा परिपूर्ण साध्य और साधन दोनों अन्तर में है; हमारी साधना अन्तर में समाविष्ट है। हम अन्तर साधन के द्वारा अपने साध्य की सिद्धि करेंगे।

ओफ्! यह संसार! धिक्कार है इस संसारभाव को! हमारा परम पवित्र परमात्मपद अन्तर में मौजूद है। उसकी रुचि और भान होने पर भी यह अस्थिरता कैसी? अरे! हमें अपने ही सिद्धपद का विरह कैसा? इस प्रकार धर्मात्मा अपनी सिद्धदशा के विरह से अन्तर में एकदम कलकली उठता है - अर्थात् परिपूर्ण पुरुषार्थ की भावना करता है।

अरे! हमारे परिपूर्ण स्वरूप में यह विकल्प नहीं हो सकता। हमारे स्वरूप में कोई व्यवधान कैसा? यह संसार तो क्षणभंगुर है। इसमें संयोग-वियोग होता ही रहता है। इसलिए इस शरीर का वियोग होता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। परन्तु अपने पूर्णानन्द स्वरूप का विरह हमसे नहीं सहा जा सकता है। [धर्मात्मा को शरीर के वियोग का दु:ख जरा भी नहीं है, किन्तु अपनी पूर्णानन्द सिद्धदशा का विरह का वेदन है।]

हमारे सुख का साधन शरीर तो क्या, पुण्य-पाप उद्भूत विकल्प भी हमारे सुख के साधन नहीं हैं। हमारा पूर्णानन्दी साध्य और उसका साधन दोनों अन्तर में मोजूद है। यद्यपि हमार साध्य और साधन दोनों अन्तर में हैं, फिर भी दोनों के बीच किसी भी प्रकार का अन्तर हमारे लिए असह्य हो जाता है। इस प्रकार धर्मात्मा को मोक्षदशा के लिए अन्तरङ्ग में आकुलता रहती है। अज्ञानी जीव, शरीर के वियोग में हाय-तौबा करता है और ज्ञानी जीव, मोक्षदशा के वियोग में आकुलित होता है। आत्मस्वरूप का भान होने पर ज्ञानियों को भी अस्थिरता के कारण कभी-कभी अशुभभाव हो जाते हैं और अशुभभाव से बचने के लिए देव गुरु धर्म की भक्ति प्रभावना की शुभवृत्ति भी जागृत हो उठती है; परन्तु उन अशुभ या शुभ दो में से एक में भी हमारी आत्मा के सुख का साधन नहीं है; प्रत्युत वे दोनों प्रकार की वृत्तियाँ आत्मस्वरूप के सुख को रोकती हैं।

हमारे अन्तरङ्ग स्वरूप का साधन बहिर्मुखी भाव में नहीं किन्तु हमारे अन्तरङ्ग स्वभाव में ही है। इस स्वभाव के बल पर पूर्ण साधनों को प्रगट करके अपना परिपूर्ण साध्य अशरीर सिद्धदशा को प्रगट कर लेंगे! पुण्य और पाप दोनों में आकुलता है, परेशानी है; उसमें मेरा साधन नहीं है; मेरा साधन तो धर्मस्वरूपज्ञायक, निराकुल, एकमात्र भगवान आत्मा ही है। इस प्रकार की श्रद्धा और ज्ञान के बिना आत्मसुख के लिए अन्य किसी भी वस्तु का अवलम्बन सहायक नहीं है।

अरे! अनन्तकाल में यह मनुष्य देह मिली और यहाँ तक आया, सच्चे देव-गुरु-धर्म की प्राप्ति हुई; फिर भी यदि चिदानन्द ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान प्राप्त करके भव का अभाव नहीं हुआ तो मनुष्य अवतार पाकर तूने क्या किया? हे भाई! स्वाधीन आत्मस्वरूप की श्रद्धा-अनुभव और अन्तर वेदन के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव या शरीर कुटुम्ब आदि कोई पर वस्तु शरभूत नहीं हो सकती। शरीर तो अनन्त जड़ रजकणों का पिण्ड है। उसके प्रत्येक परमाणु का परिणमन

स्वतन्त्र है। ऐसी स्थिति में किसे तो कुटुम्ब कहा जाए और किसे शरीर! जड़ के परिणमन में संयोग-वियोग तो होता ही रहता है। यह तो उसका स्वभाव है। त्रिकाल में भी किसी का परिणमन पराश्रित नहीं है।

जो शुभाशुभभाव होता है, वह कोई कर्म या शरीर नहीं करवाता किन्तु वह केवल अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है। आत्मा स्वयं ही ऐसा भाव परलक्ष से बना लिया करता है। तू अपने परिणाम की ओर देख तो मालूम होगा कि कोई भी शुभाशुभभाव एक से स्थिर नहीं रहते। चाहे जैसा भाव हो; वह क्षण भर में बदल जाता है और नया भाव उत्पन्न हो जाता है। अन्तरंग में जो शुभ या अशुभभाव पैदा होता है, वह कम बढ़ होता ही रहता है, किन्तु उन भावों को जानने वाला आत्मा का ज्ञान तो निरन्तर एक-सा ही बना रहता है। ज्ञान सदा आत्मा के साथ रहता है और पुण्य-पाप के भाव प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, इसलिए ज्ञानी जानता है कि -

ज्ञान मेरा स्वरूप है और उसी में मेरा सुख है परन्तु जो शुभाशुभभाव होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं औन न उसमें मेरा सुख ही निहित है। पुण्य-पाप के भाव विकारी और खण्ड-खण्ड हैं, जब कि मेरा ज्ञानस्वभाव निरन्तर निर्विकार अखण्ड है; और यही मेरा सुख का साधन है। मेरे सुख का साधन के लिए मुझे शरीर की या किसी भी शुभाशुभवृत्ति की सहायता ही नहीं है; मैं ही अपने सुख का साधन हूँ और मुझमें ही मेरा सुख निहित है।

पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता

जीवन के क्षणों में मरण के क्षणों को एकमेक करके जो संधि करता है, उसे मरण के समय समाधि ही होती है।

पूर्व में बहे हुए संस्कार यदि वर्तमान में उतर आये, तभी व्यवहार में यह कहा जा सकता है कि पूर्व संस्कार लाभकारी सिद्ध हुये। वास्तव में तो वर्तमान पुरुषार्थ पर ही आधार है। वर्तमान में स्वयं मंद या तीव्र पुरुषार्थरूप परिणमन करना अपनी वर्तमान रुचि के आश्रित हैं। वास्तव में वर्तमान पुरुषार्थ के लिये पूर्व संस्कार हानि या लाभ नहीं करते; क्योंकि वर्तमान पर्याय का उत्पाद, पूर्व पर्याय के व्यय सहित होता है। इस न्याय में पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता बताई गई है।

धरती में शाक के बीज बो देने पर आदमी यों मान लेता है कि अब मुझे शाक की कमी नहीं रहेगी; उसी प्रकार आत्मा श्रद्धा-दर्शनादि रूप बीज बोये जाने पर यों नि:शंक हो जाता है कि अब अल्प काल में ही पूर्ण पर्याय प्रगट हो जायेगी।

अस्ति-नास्ति का सुदर्शनचक्र धारण करनेवाले

जैन क्या मानता है ?

जैन कर्मवादी नहीं है : कर्म तो जड़ है, जैन जड़वादी नहीं, किन्तु आत्मस्वभाव के माननेवाले हैं। आत्मा का चैतन्यस्वभाव है, उस स्वभाव में जड़कर्म तो क्या, राग-द्वेष भी नहीं है। इसलिए इतना तो निश्चित हुआ कि जैन लोग जड़ कर्मवादी नहीं हैं और जो पुण्य-पाप का विकार भाव होता है, उसे भी जैन, आत्मा का स्वभाव नहीं मानते। इस प्रकार जैन विकारवादी भी नहीं हैं। जैन तो परिपूर्ण पवित्र चैतन्य आत्मस्वभाव को माननेवाले हैं और उस आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान तथा स्थिरता ही धर्म है। जो शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, वह धर्म नहीं है। पुण्य-पाप पराश्रय हैं, और धर्म स्वाश्रय स्वभावी है। पराश्रय भाव में धर्म मान लेना जिनेश्वरदेव ने मिथ्यात्व कहा है। *(१६-४-४५ की चर्चा के आधार पर)*

कर्म, आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोक सकता : जिन्हें यह ज्ञान नहीं है कि कौन सा कार्य जड़ करता है और कौन सा चेतन, वे दो प्रकार की भूलें करते हैं। (१) मैं परवस्तु का कार्य कर सकता हूँ, (२) कर्म, आत्मा को पुरुषार्थ करने से रोक सकता है। जो यह मानते हैं कि मैं जड़ वस्तुओं का काम कर सकता हूँ, और मैं पुरुषार्थ से उन्हें प्राप्त कर सकता हूँ, या छोड़ सकता हूँ, अर्थात् जड़ के कार्यों में आत्मा का पुरुषार्थ चल सकता है, वे 'जड़वादी' हैं, क्योंकि वे आत्मा को जड़ का कर्ता मानते हैं। वह जीव, जैन धर्म के स्वरूप को ही नहीं जानता।

यों माननेवाले जीव अज्ञानी हैं कि अपने भवितव्य में मुक्ति हो तो पुरुषार्थ जागे और कर्म की शक्ति कम हो तो आत्मा में पुरुषार्थ जागृत हो एवं कर्मोदय के अनुसार पुरुषार्थ होता है। उन्हें अज्ञानी कहने का कारण यह है कि वे मानते हैं कि आत्मा का पुरुषार्थ और मुक्ति जड़ कर्माधीन हैं। वे 'कर्मवादी' हैं। और चूँकि कर्म जड़ हैं, इसलिए वे भी जड़वादी हैं; वे आत्मस्वभाववादी नहीं हैं और न जैन हैं।

जो यह नहीं जानते कि जड़ कहाँ कार्य करता है और चैतन्य का पुरुषार्थ कहाँ कार्य करता है, वे अज्ञानी हैं। कर्म और पुरुषार्थ का स्वरूप क्या है, और वह कहाँ किस प्रकार कार्य कर सकते हैं, यह निम्न प्रकार है—

कर्म=आत्मा के द्वारा पूर्व कृत शुभाशुभभावों का निमित्त पाकर जड़ परमाणुओं का आत्मा के साथ अमुक काल तक संयोग रहता है, उन परमाणुओं को 'कर्म' कहते हैं। वे जड़ हैं।

पुरुषार्थ=आत्मा के वीर्य गुण की दशा को आत्मा का पुरुषार्थ कहा है।

अब यहाँ यह बताया जाता है कि कौन सी क्रिया आत्मा के पुरुषार्थ के आधीन है और कौन सी कर्माधीन ?—

संसार में होनेवाले परवस्तुओं के संयोग-वियोग के कार्य कर्मोदयानुसार होते हैं। जैसे पैसा मिलना, स्त्री मिलना, शरीर स्वस्थ रहना इत्यादि जड़ के संयोग-वियोग के तमाम कार्य अघातिया कर्म के उदयानुसार होते हैं, आत्मा यह कार्य नहीं कर सकता। जो यह मानता है कि बाह्य सामग्री को मैं अपने वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता हूँ, अथवा मैं उसे व्यवस्थित रख सकता हूँ, वह मानो यह मानता है कि अपना पुरुषार्थ जड़ में हो सकता है। इसलिये वह 'जड़वादी' है। उसे वस्तु स्वभाव की खबर नहीं है।

मोक्षप्राप्ति के लिये आत्मा का पुरुषार्थ कार्य कर सकता है। मोक्ष साधन में पुरुषार्थ उपादान कारण है, और जब पुरुषार्थ किया जाता है, तब सम्यग्ज्ञानियों का उपदेश और सत्समागम आदि निमित्तरूप होता है। मोक्ष तो आत्मा के स्वतन्त्र पुरुषार्थ से ही होता है। जो सत्य पुरुषार्थ करता है, उसकी मुक्ति हो जाती है और जो सत्य पुरुषार्थ नहीं करता, उसकी मुक्ति नहीं होती। सत्य पुरुषार्थ करते हुए आत्मा का जो शुद्धतारूपी कार्य प्रगट होता है, वही भवितव्य हैं। मोक्ष संबंधी कार्य पुरुषार्थ के अनुसार होता है, उसमें कर्म का कोई वश नहीं चलता। आत्म पुरुषार्थ स्वतन्त्र है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं किया जाता, वहाँ भवितव्य भी नहीं होता। मुक्तिरूपी कार्य पुरुषार्थ से ही प्रगट होता है। *(चर्चा के आधार से)*

जो पुरुषार्थ को नहीं मानते, वे आत्मा को ही नहीं मानते : आत्मा में अनन्त गुण हैं; उनमें वीर्य-पुरुषार्थ भी एक गुण है। वीर्यगुण अनादि-अनन्त है। आत्मा त्रिकाल वीर्य स्वरूप है। वह पुरुषार्थ गुण प्रतिसमय अपना कार्य कर ही रहा है। अर्थात् प्रतिसमय सीधा या उल्टा पुरुषार्थ किया ही करता है। यदि बिना पुरुषार्थ के एक समय भी बीत जाय तो त्रिकाली द्रव्य के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाय। यदि एक समय के लिये भी पुरुषार्थरूपी अवस्था न हो तो ऐसी परिस्थिति में गुण का ही अभाव हो जायेगा और गुण का अभाव होने पर, द्रव्य ही नहीं रहेगा। इस प्रकार जो पुरुषार्थ को स्वीकार नहीं करता, मानो वह द्रव्य को ही स्वीकार नहीं करता। क्योंकि द्रव्य त्रिकाल है, और उसमें पुरुषार्थ भी त्रिकाल है और वह गुण प्रत्येक समय अपना कार्य करता ही रहता है। गुण के बिना अवस्था नहीं होती और गुण बिना गुणी भी नहीं होता।

जो जीव, अवस्था को स्वीकार नहीं करता, वह मानो गुण को भी स्वीकार नहीं करता। और गुण के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए जो स्वतन्त्र पुरुषार्थ को नहीं

मानता और पुरुषार्थ को कर्माधीन मानता है, वह सारे त्रिकाली द्रव्य को ही नहीं मानता। ऐसी दशा में—समस्त द्रव्य को नहीं मानने का फल अनन्त संसार ही है, इसलिए जो पुरुषार्थ को नहीं मानता वह जीव अनन्त संसारी है। जैनधर्म वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव को मानता है, और वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव में पुरुषार्थ भी परिपूर्ण ही होता है। इसका मतलब यह है कि जैन परिपूर्ण पुरुषार्थ के माननेवाले स्वभाववादी है। *(मोक्षमार्ग प्रकाशक के व्याख्यान से)*

जैन, त्याग प्रधान नहीं है : कितने ही लोग केवल त्याग से जैनधर्म की महत्ता मानते हैं; किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। जैनधर्म की मुख्यता है अनेकान्त। त्याग तो नास्ति रूप है, अस्ति स्वरूप के बिना नास्ति रूप हो ही नहीं सकता। अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, यह जाने बिना त्याग किसका? परवस्तु के त्याग का कर्तृत्व आत्मा को नहीं है क्योंकि परवस्तु आत्मा से अलग है।

आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप अस्ति के बल पर जो परभाव रूप विकार का त्याग है, उस का नाम 'नास्ति' है। आत्मा के अस्ति स्वरूप का भान हुए बिना रागादि की नास्ति नहीं हो सकती। अस्ति-नास्ति स्वरूप अनेकान्त ही जैनधर्म की प्रधानता है। अर्थात् केवल त्याग जैनधर्म की प्रधानता नहीं है। किन्तु वस्तु स्वरूप की स्व से परिपूर्णता, प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता-स्व से अस्तिपन और पर से नास्तिपन रूप जो स्वभाव है, वही जैनधर्म की प्रधानता है। *(२८-५-४५ के व्याख्यान से)*

स्वभाव की दृढ़ता

''मेरा सुख मुझ में ही है; मुझे अपने सुख के लिये किसी परवस्तु की आवश्यकता नहीं है'' इस प्रकार आन्तरिक दृढ़ता होने पर, पर की ममता छूट जाती है। जो पर को अपना मानता है, वह चौरासी में भटकने रूप दुःख को आमन्त्रण देता है।

स्वभाव की रुचि, श्रद्धा या दृढ़ता के बिना त्रिकाल में भी धर्म नहीं होगा। यदि तुझे धर्म करना हो तो यह दृढ़ विश्वास कर कि कोई भी परवस्तु तेरी नहीं है। इस प्रकार 'स्व' की दृढ़ता होने पर 'पर' की दृढ़ता हट जाती है।

अभी तक के अनन्त काल में जीव किसी का भला-बुरा नहीं कर सका है, हाँ अपने द्वारा अपनी ही हानि करता रहा है। यदि अपनी हानि नहीं की होती तो जन्म मरण नहीं होता। सत् की रुचि के बिना स्वभाव की रुचि नहीं आ सकती और न पर की रुचि दूर ही हो सकती हैं और जिसे स्वभाव की रुचि नहीं है, उसे पर की भावना हुए बिना नहीं रह सकती।

पंच परमेष्ठि का स्वरूप

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयारियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥

यह प्राकृतभाषामय नमस्कार मंत्र है। यह महामंगल स्वरूप है। इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

नमोऽर्हद्भ्यः। नमः सिध्धेभ्यः। नमः आचार्येभ्यः। नमः लोके सर्व साधुभ्यः।

अर्थ :— लोक में वर्तमान सर्व अरिहन्तों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और साधुओं को नमस्कार हो। इस तरह इस मन्त्र में पंच परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। इसीलिए इसे नमस्कार मन्त्र कहा है।

इस मन्त्र में जिनको नमस्कार किया गया है, अब उनके स्वरूप की विचारणा करते हैं। क्योंकि स्वरूप के जाने बिना यह मालूम नहीं हो सकता कि हम किनको नमस्कार करते हैं। और बिना इस ज्ञान के उत्तम फल की प्राप्ति होवेगी ही कैसे? अतः प्रथम अरिहन्त के स्वरूप का विचार करते हैं—

अरिहंत का स्वरूप — जो गृहस्थपने को छोड़कर मुनिधर्म को अंगीकार कर निज स्वभाव साधनों के द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय कर अनन्त चतुष्टय बिराजमान भये, वे अरिहंत हैं। वे अनन्त ज्ञान के द्वारा अनन्त गुण-पर्यायों सहित समस्त जीवादि द्रव्यों को विशेषरूप से-प्रत्यक्षरूप से युगपद् जानते हैं। अनन्त दर्शन से वे उपरोक्त जीवादि को ही सामान्यरूप से अवलोकते हैं। अनन्त वीर्य से वे उपर्युक्त सामर्थ्य को धारते हैं तथा अनन्त सुख द्वारा वे निराकुल परमानन्द का अनुभव करते हैं।

पुनरपि सर्व राग-द्वेषादिक विकार भावों से रहित होकर जो शान्तरसरूप परिणमित हुए हैं, क्षुधा, तृषादि समस्त दोषों से मुक्त होकर जो देवाधिदेवपने को प्राप्त हुए हैं। शस्त्र, वस्त्र, अंग-विकार आदि निन्द्य क्रोधादि भावों के चिन्हों से सर्वथा रहित परम औदारिक जिनका शरीर है, जिनके वचनों से संसार में धर्म-तीर्थ प्रवर्तित होता है, जिनकी कृपा से अन्य जीवों का कल्याण होता है, लौकिक जीवों के, ये प्रभु हैं, इस आशय को प्रदर्शित करनेवाली अनेक अतिशयरूप समृद्धि के जो धारक हैं तथा स्वकल्याणार्थ गणधरादि मुनि और इन्द्रादि उत्कृष्ट जीव जिनकी सेवा करते हैं। ऐसे सर्व प्रकार से उत्कृष्ट सतत पूज्य श्री अरिहंतदेव को हमारा नमस्कार हो।

सिद्ध का स्वरूप — अब श्री सिद्ध प्रभु के स्वरूप का कथन करते हैं-जो गृहस्थावस्था

का त्याग कर, मुनिधर्म के साधन द्वारा चार घातिया कर्मों को नाश करके अनन्त चतुष्टयरूप अलौकिक वैभव को प्राप्त करके, कुछ काल पश्चात् चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर परम औदारिक (क्योंकि इस शरीर में निगोद जीव रहते नहीं, धातु, उपधातु सर्व निर्मल कपूर के समान हो जाती हैं) शरीर को त्याग ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा लोक के अग्रभाग में पहुँचकर विराजमान हुए हैं, वहाँ सम्पूर्ण परद्रव्यों के सम्बन्ध के अभाव के कारण जिन्हें सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हुई है, चरम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकारवत् जिन के आत्मप्रदेशों का आकार अवस्थित हुआ है, प्रतिपक्षी कर्मों का नाश करने से समस्त ज्ञान-दर्शनादि आत्मिक गुणों की सम्पूर्ण रूप से जिन्हें प्राप्ति हुई है, भावकर्मों के अभाव से शुद्ध निराकुल आनन्दमय अवस्था को प्राप्त किया है, पुनः जिनका ध्यान करी भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का और उपाधिक भाव-स्वभावनी का विज्ञान होता है, ताकरि सिद्ध के समान आप होने का साधन होता है, तातैं साधने योग्य जो अपना शुद्ध स्वरूप ताके दिखावने को प्रतिबिम्ब समान हैं।

ऐसे पूर्ण आत्मिक विकास रूप सम्पत्ति के धारी श्री सिद्ध प्रभु को हमारा नमस्कार हो।

अब श्री आचार्य, उपाध्याय तथा साधु के स्वरूप का अवलोकन करते हैं—

आचार्य, उपाध्याय एवं साधु का स्वरूप— जो वैराग्ययुक्त हो कर, समस्त परिग्रह का त्याग कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म को अंगीकार कर, शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मा में ही आत्मा का अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते, अपने ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना मानते हैं, परभाव में ममत्व नहीं करते हैं, स्वज्ञान में प्रतिभासित परद्रव्य एवं परस्वभाव को जानते तो हैं परन्तु इष्ट, अनिष्ट मानकर उनमें रागद्वेष नहीं करते हैं, शरीर की अनेक अवस्था होने पर भी, बाह्य नाना निमित्तों के मिलने पर भी, जो किंचित् भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते हैं, जिनकी बाह्य क्रिया स्वयं यथेष्ट प्रवर्तित होती हैं परन्तु वे क्रिया की तरफ लक्ष्य रखकर खेंचतान नहीं करते हैं, जो अपने उपयोग को व्यर्थ भ्रमित नहीं करते, मात्र तटस्थ होकर निश्चलवृत्ति धारण करते हैं, मन्दराग के कारण शुभोपयोग भी होता हैं। तिसकरी शुद्ध उपयोग के बाह्य साधनों में कभी अनुराग भी करते हैं परन्तु इस रागभाव को भी जो हेय जानकर त्यागने का प्रयत्न करते हैं, तीव्र कषाय के उदय के अभाव के कारण हिंसादि अशुभोपयोग का तो जिनमें अस्तित्व ही नहीं है, जो पूर्ण बाह्यदिगम्बररूप सौम्यमुद्राधारी हुए हैं, शरीर संस्कार (सजाना) आदि की क्रिया से जो निवृत्त हो गये हैं, एकान्त वनखण्डादि में जो रहते हैं, जो अठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, जो बाईस परिषहों को सहते हैं, बारह प्रकार के तप को जो आदरते हैं, समयानुसार ध्यान मुद्राधारी प्रतिमावत् निश्चल रहते हैं तथा कभी अध्ययनादि

बाह्य क्रियाओं में प्रवर्तित होते हैं, किसी समय मुनिधर्म पालन में सहकारी जो यह शरीर, उसकी स्थिति के अर्थ योग्य आहार विहारादि क्रिया में सावधान होते हैं। इस प्रकार से सर्व जैन मुनियों की यही अवस्था होती है।

इस मुनिसंघ में सम्यग्ज्ञान, चारित्र की अधिकता के कारण प्रधानपद प्राप्त कर जो संघ के नायक बने हैं, मुख्यरूप से जो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही निमग्न हैं, परन्तु धर्मलोभी योग्य किसी जीव को देखकर करुणावश कभी-कभी उपदेश भी देते हैं, दीक्षा ग्राहक को दीक्षा देते हैं, जो शिष्यादि स्वदोष को प्रगट करे, उसे प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं। इस तरह आचार पालने वाले तथा पलवाने वाले श्री आचार्य महाराज को हमारा नमस्कार है।

जो मुनि अधिक जैनशास्त्रों का ज्ञाता होकर संघ में पठन-पाठन के अधिकारी बने हो, समस्त शास्त्रों के प्रयोजनभूत अर्थ को जानकर एकाग्र होकर जो अपने स्वरूप को ध्याते हैं, कभी-कभी कषाय-अंश के उदय से यदि ध्यान में तन्मयता न रहे तो शास्त्रादि के अध्ययन में लग जाते हैं या अन्य धर्मबुद्धि वाले को अध्ययन कराने लगते हैं। ऐसे समीपवर्ती भव्य जीवों शास्त्रज्ञान प्रदाता श्री उपाध्याय परमेष्ठि को हमारा नमस्कार हो।

इन दो पदवीधारकों के अनन्तर अन्य समस्त मुनि पद का धारकै वह समस्त मुनि आत्म-स्वभाव को साधते हैं, इसीलिए उन्हें साधु कहते हैं। इष्ट-अनिष्ट मानकर अपना उपयोग परद्रव्यों में न फंस जाये, ऐसी निरन्तर सावधानी रखते हैं। बाह्य साधनरूप तपश्चरणादि क्रिया में निरत रहते हैं, कभी भक्ति, वन्दना आदि क्रिया में निरत होते हैं, ऐसे आत्मस्वभाव के साधक साधु परमेष्ठि को हमारा नमस्कार हो।

इस तरह अरिहन्तादि का स्वरूप वीतराग-विज्ञानमय है। इसीलिए अरिहन्तादि स्तुति योग्य है-महान् हैं। जीवतत्त्व की समानता से तो सभी जीव समान हैं, परन्तु रागादिक विकार के कारण से वा ज्ञान की हीनता के कारण से जीव निन्दने योग्य होता है। पुनः जीव, रागादि की हीनता वा सम्यग्ज्ञान की विशेषता कारण से स्तुति योग्य है। सो अरिहन्त और सिद्ध भगवान के तो संपूर्ण रागादिक का अभाव है और ज्ञान की विशेषता होने से संपूर्ण वीतराग-विज्ञानभाव संभवे है।

इसमें भी विशेष ज्ञातव्य यह है कि अरिहंतादि पद में भी मुख्यरूप से तो श्री तीर्थंकर का तथा गौणरूप से सर्व केवलियों का अधिकार है।

चौदहवें गुणस्थान के अनन्तर सिद्ध नाम जानना।

यह भी ज्ञातव्य है कि जिसे आचार्यपद प्राप्त हो जावे, वह चाहे संघ में रहे, चाहे एकाकी

रहकर आत्मध्यान करे या एकल विहारी हो, आचार्यों में भी प्रधानता प्राप्त कर चाहे गणधर पद का धारक हो, परन्तु इन सबको आचार्य ही कहा जावेगा।

पठन-पाठन तो अन्यमुनि भी करते हैं परन्तु जिसे आचार्य द्वारा उपाध्याय पद प्राप्त हुआ हो, वह आत्मध्यानादि करते समय भी उपाध्याय ही कहा जाता है। जो पदवी धारक नहीं, वे सब साधु संज्ञा के धारी हैं।

यहाँ ऐसा कोई नियम नहीं कि पंचाचार के पालने से ही आचार्य पद होता है, पठन पाठनादि द्वारा ही उपाध्याय पद होता है, या मूलगुणों के साधने से ही साधु होता है क्योंकि उपर्युक्त बाते तो सर्व साधुओं में समान हैं। समरूढ़नय की अपेक्षा से आचार्यादिक नाम जानना चाहिए।

यहाँ सिद्ध भगवान के पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार किया इसका क्या कारण है? इस शंका का समाधान इस प्रकार है।

अरिहन्त प्रभु को प्रथम नमस्कार करने का कारण— अपने प्रयोजन को साधने की अपेक्षा से ही किसी को नमस्कार किया जाता है। अरिहन्त भगवान से उपदेशादि का प्रयोजन विशेष सिद्ध होता है, इसलिए उन्हें प्रथम नमस्कार किया जाता है।

इस तरह अरिहन्तादि के स्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि स्वरूप चिन्तवन करने से कार्य की विशेष सिद्धि होती है। इन अरिहन्तादि को पंच परमेष्ठि भी कहते हैं। जो परमपद में अवस्थित हो, उसे परमेष्ठि कहते हैं। इन पाँचों के समाहार-समुदाय का ही नाम पंच परमेष्ठि है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

★

श्रुतपंचमी

परम पूज्य सद्गुरुदेव का प्रवचन

ज्ञानस्वभावी आत्मा है। वह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलम्बन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही? यदि वर्तमान ज्ञान, इन्द्रिय से जानता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान, इन्द्रिय से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है, उसका विशेष क्या होगा? आत्मा का ज्ञान, इन्द्रिय से नहीं किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है। यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो

विशेष ज्ञान ने कौन सा कार्य किया? आत्मा, इन्द्रिय से ज्ञान का काम करता ही नहीं। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप जानने का कार्य करता है। निम्न दशा में भी जड़ इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्य ज्ञान जो आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है, उसी का विशेषरूप ज्ञान, वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न : यदि ज्ञान का विशेष ही जानने का कार्य करता है तो फिर बिना इन्द्रिय के जानने का कार्य क्यों नहीं होता?

उत्तर : ज्ञान की उस प्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती, तब इन्द्रिय नहीं होती। और जब इन्द्रिय होती है, तब ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है। क्योंकि ज्ञान परावलम्बन रहित है। मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २६४ में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान करना चाहिए' यह उसी का विवरण चल रहा है। इन्द्रिय के होते हुए भी ज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जायेगा कि ज्ञान, इन्द्रिय से जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञान का विशेष स्वभाव काम नहीं करता। और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्य ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान, इन्द्रिय से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है, तब अनुकूल इन्द्रियाँ मौजूद होती हैं किन्तु ज्ञान उसकी सहायता से नहीं जानता। इस प्रकार जान लेना ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान है। किन्तु यदि यह माना जायेगा कि ज्ञान, इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान, मिथ्याज्ञान होगा। क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आचार्यदेव, शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो सामान्य ज्ञान ने कौन सा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ज्ञान-विशेष नहीं हो तो भी ज्ञान सामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही, और जानने का काम इन्द्रिय से होगा। ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा-अभाव नहीं होगा।

आचार्यदेव का उत्तर :— निर्विशेष सामान्य तो 'खरगोश के सींग' जैसा (अभावरूप) है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता; इसलिए निर्विशेष सामान्य ज्ञान मानने से सामान्य का नाश या अभाव हो जायेगा; इसलिए यदि यह माना जाय कि विशेष ज्ञान से ही जाननेरूप कार्य होता है तो ही सामान्य ज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव, राग और निमित्त के अवलम्बन से रहित है और विशेष ज्ञान, सामान्य ज्ञान में से ही आता है; यों जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना, यही धर्म है।

यदि ज्ञान, इन्द्रिय से जानता है तो फिर उसका वर्तमान कार्य कहाँ गया ? यदि इन्द्रिय की उपस्थिति में ज्ञान, इन्द्रिय के कारण जानता है तो उस समय सामान्य ज्ञान, विशेष पर्याय रहित कहलाया; किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहाँ सामान्य होगा, वहाँ उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष, सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से ? विशेष ज्ञान निमित्त को लेकर तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि वह अंशत: या पूर्णत: निमित्त का कार्य माना जाय तो निमित्त जो परद्रव्य है, वह परद्रव्यरूप ज्ञान हो जायेगा। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और वर्तमान कार्यरूप ज्ञान का विशेष है। सामान्य ज्ञान का विशेष, स्थिर ज्ञानस्वभाव का परिणमन या ज्ञान की वर्तमान दशा (पर्याय) कुछ भी कहो, वह सब है एक ही।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह केवल जानने का ही काम करता है। शब्द को, रूप को या किसी को भी जानने के लिये ज्ञान एक ही है, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं हो जाता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है, वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्मा का जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है, वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा, इन्द्रिय से जानता ही नहीं; वह ज्ञान की विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्य ज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है, वह विशेष ज्ञान जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान स्वावलम्बन से जानता है, इस प्रकार की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता धर्म हैं।

यहाँ, परावलम्बन रहित ज्ञान की स्वाधीनता बताई गई हैं। यह जयधवला शास्त्र की खास विशेषता हैं और भी अनेक बातें हैं, जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप वर्तन, उस वर्तनरूप विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है; उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है; अर्थात् ज्ञान कभी भी स्वाधीनता से हटकर परावलम्बन में नहीं जाता। इसलिए वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है। ज्ञान का स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है; परन्तु जैसा हो रहा है, वैसा अज्ञानी नहीं मानता, इसलिए उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवों का सामान्य ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिए राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही ज्ञान कार्य करता है, इसलिए ज्ञान, राग या संयोग से रहित है।

आज (श्रुतपंचमी) से २००० वर्ष पहले सातवें-छठ्ठे गुणस्थान में झूलते हुए महान् संत

मुनियों ने-आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने (ज्ञान प्रभावना का विकल्प उठते ही) महान परमागम शास्त्रों (षट् खण्डागम) की रचना करके अंकलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुतपूजा की थी। उस श्रुतपूजा का मांगलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी हैं।

मेरा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञान की अटूट धारा बहती रहे, अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो; इस प्रकार वास्तव में भीतर पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान आगम स्थिर बना रहे; यह विकल्प उठते ही महान परमागम शास्त्रों की रचना की, और उनकी श्रुतपूजा की; वही मंगल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) है। वास्तव में दूसरे के लिये भावना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की अटूट धारा बहने की भावना है और तब इन शास्त्रों की रचना हुई हैं। इस शास्त्र में अनेक बातें हैं; उनमें से आज मुख्य दो विशेष बातें कहनी हैं।

ज्ञान, इन्द्रिय से नहीं जानता। यदि ज्ञान बिना कार्य अर्थात् विशेष के बिना रहे तो वर्तमान विशेष के बिना सामान्य किसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्य ज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्य ज्ञान है।' इसका बिना विशेष के निर्णय कौन करेगा? निर्णय तो विशेष ज्ञान करता है। वर्तमान विशेष ज्ञान (पर्याय) के द्वारा परावलम्बन रहित सामान्य ज्ञानस्वभाव जैसा है, वैसा ही जानना, इसी में धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान, राग को जानता है, पर को जानता है, इन्द्रिय को जानता है, परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता; ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। विकार को अथवा पर को अपना नहीं मानता, उसे दुःख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है, ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शंका या दुःख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञान स्वभाव स्वयं सुखरूप है।

निगोद से लेकर समस्त जीवों में कोई भी जीव, इन्द्रिय से नहीं जानता। जिसे सबसे अल्प ज्ञान हैं—ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता, किन्तु वह अपने सामान्य ज्ञान के परिणमन से होने वाले विशेष ज्ञान के द्वारा जानता है। किन्तु वह यों मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ। परन्तु जब जीव को सामान्य ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से [सामान्य की ओर एकाग्रता होने से] विशेष ज्ञान होता है, तब वह सम्यक् मतिरूप होता है; और वह मतिज्ञानरूप अंश में बिना परावलम्बन के निरालम्बी ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रत्यक्षता आती है।

– अपूर्ण–